

अर्द्ध-शिक्षकों का अर्द्ध-सत्य

□ राजाराम भादू

भारत में आजादी के बाद भी हम देखते हैं कि प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का मुद्दा 'एक टाला जाने वाला मसला' रहा है। संविधान में शिक्षा को 'एक मौलिक अधिकार' का दर्जा नहीं मिला। नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत 6 से 14 वर्ष आयु वर्ग तक के बच्चों के लिए 'नि-शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा' का प्रावधान रखा गया। इस प्रावधान को लागू करने के लिए राज्य को दस वर्ष का समय दिया गया। लेकिन यह प्रावधान आज तक क्रियान्विति की बाट जोह रहा है। शिक्षा को संवैधानिक रूप से समवर्ती सूची में रखा गया है, इसके चलते प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के प्रश्न पर राज्य सरकारें केन्द्र की ओर ताकती रहती हैं और केन्द्र राज्य सरकारों की शिथिलता को कोसता रहता है।

लेकिन पिछले एक-डेढ़ दशक से प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के 'स्थगित प्रश्न' को हल करने के लिए एक नयी रणनीति अख्तियार की गयी है। इसके अन्तर्गत औपचारिक शिक्षा प्रणाली के समान्तर एक अनौपचारिक तंत्र खड़ा किया गया है। देश के विभिन्न प्रान्तों में अनेक कार्यक्रमों के नाम से अस्थायी स्कूलों और शिक्षा केन्द्रों का व्यापक जाल बिछाया गया है। इनमें स्थानीय शिक्षित युवक-युवती को बतौर शिक्षक नियुक्त कर दिया जाता है। उन्हें अल्पकालिक प्रशिक्षण देकर बच्चों को पढ़ाने की जिम्मेदारी दी जाती है और इसकी एवज में पांच सौ या एक हजार रुपये मानदेय अथवा पारिश्रमिक दिया जाता है। इन्हें 'पैरा टीचर' कहा गया है अर्थात् 'अर्द्ध-शिक्षक'।

'अर्द्ध-शिक्षकों' के उद्भव को जानने के लिए स्वतंत्रता के उपरान्त देश में शिक्षा-प्रसार के अनौपचारिक प्रयासों को समझने की आवश्यकता है। वास्तव में 'अर्द्ध-शिक्षक' अनौपचारिक शिक्षा-प्रक्रिया की उपज हैं।

1966 में कोठारी आयोग ने शिक्षा को व्यापक स्वरूप प्रदान करने और विकास-प्रक्रिया में लोगों की सह-भागिता बढ़ाने के लिए प्रौढ़-शिक्षा को और अधिक सुनियोजित रूप से चलाने की सिफारिश की। इसके उपरान्त प्रौढ़-शिक्षा की जो योजना बनी उसमें ग्रामीण निरक्षरों को किसी शिक्षित व्यक्ति द्वारा 'थोड़ा पढ़ना लिखना और हस्ताक्षर करना सिखा देना पर्याप्त' था। यह कार्य 'एक स्थानीय स्वयंसेवक' द्वारा 'प्रतीकात्मक मानदेय' द्वारा सम्पन्न कराना था। स्वयंसेवक के लिए थोड़ा पढ़ा-लिखा होना पर्याप्त था और बाद में इसके लिए 'अल्पकालिक' प्रशिक्षण की व्यवस्था कर दी गयी।

कुछ इसी तरह का कार्यक्रम स्कूल न जाने वाले बच्चों के लिए 'अनौपचारिक शिक्षा' के नाम से सातवें दशक में शुरू किया गया। इसे आरंभ करने के कारणों में स्कूल का नहीं होना अथवा दूर स्थित होना, बच्चों का किन्हीं कारणों से स्कूल न आ पाना अथवा स्कूल बीच में छोड़ देना आदि थे; तो एक प्रमुख कारण औपचारिक शिक्षा के विस्तार के लिए अपेक्षित वित्त की सरकारी स्तर पर कमी होना भी था। केन्द्र-सरकार के स्तर पर संचालित 'अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम' की अवधारणा में तो जे.पी. नाइक का शैक्षिक त्रिकोण - 'समानता, गुणवत्ता व संख्यात्मक विस्तार' सिद्धांत निहित था। किन्तु व्यवहार में स्थानीय स्तर पर 'थोड़े पढ़े-लिखे' महिला/पुरुष को 'अल्पकालीन प्रशिक्षण' देकर 6 से 14 आयु वर्ग के बच्चों को शिक्षा प्रदान करने का काम सौंप दिया जाता था। इस 'अंश कालिक शिक्षक' को 'मानदेय' स्वरूप न्यून राशि प्रदान की जाती थी। एक तरह से यह प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का ही एक दूसरे स्तर पर विस्तार था।

अभी तक 'अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम' मुख्यधारा शिक्षा से 'समानता' या 'गुणवत्ता' की दृष्टि से संदिग्ध ही बना रहा। लेकिन राजस्थान की शिक्षाकर्मी परियोजना (1987) ने अनौपचारिक शिक्षा-प्रयोगों को न केवल मुख्यधारा के 'समकक्ष' रखने की ही जमीन तैयार की बल्कि इन्हें एक तरह की

‘वैधता’ भी प्रदान की । शिक्षाकर्मि परियोजना का आधार सामाजिक कार्य एवं अनुसंधान केन्द्र तिलोनिया (राजस्थान) का ‘रात्रिशाला प्रयोग’ था । तिलोनिया के इस केन्द्र ने 1975 में यह प्रयोग शुरू किया । इस औपचारिक स्कूलों के अप्रभावी हो जाने पर सिलोरा (अजमेर) विकास खंड के गांवों में ‘रात्रिकालीन शालाओं’ की शुरुआत की गयी । इन शालाओं में गांव के थोड़े शिक्षित ‘समर्पित’ व्यक्ति का गांव वालों की राय लेकर चयन किया गया । उसे कुछ समय का प्रशिक्षण देकर शिक्षक के रूप में नियुक्त कर दिया । इन शालाओं का पाठ्यक्रम सामाजिक कार्य एवं अनुसंधान केन्द्र द्वारा तय किया गया। शिक्षक को केन्द्र का एक कार्यकर्ता माना गया और इसी रूप में ‘पारिश्रमिक’ प्रदान किया जाता रहा । ‘रात्रिशाला प्रयोग’ की तर्ज पर राज्य में शिक्षाकर्मि परियोजना प्रारंभ की गयी । यह योजना ऐसे गांवों में आरंभ की गयी, जिनमें या तो शिक्षक की लगातार अनुपस्थिति के कारण स्कूल चल नहीं पा रहा था अथवा स्कूल था ही नहीं । ऐसी जगह गांव वालों की सहमति से ‘स्थानीय शिक्षित समर्पित युवक/युवती’ का चयन किया गया । उसे 37 दिवसीय प्रशिक्षण देकर स्कूल चलाने का दायित्व सौंप दिया गया । इस कार्य की एवज में उसे मानदेय का प्रावधान किया गया । (देखें, शिक्षाकर्मि परियोजना दस्तावेज) शिक्षाकर्मि परियोजना के कुछ मूल्यांकनों में यह पाया गया कि इन स्कूलों में बच्चों का उपलब्धि स्तर मुख्यधारा के स्कूलों की तुलना में कम नहीं है । इसे परियोजना की सफलता मानकर इसका विस्तार किया जाता रहा है । मध्य प्रदेश में भी शिक्षाकर्मि योजना शुरू की गई है । मध्यप्रदेश में ही शिक्षा गारंटी योजना और वैकल्पिक शाला कार्यक्रम इसी तर्ज पर चल रहे हैं । बिहार शिक्षा परियोजना और हिमाचल प्रदेश, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में ऐसी योजनाएं संचालित हैं । ‘महिला समाख्या’ कार्यक्रम तथा ‘सरस्वती योजना’ बालिका शिक्षा के लिए इसी पद्धति को अपना रही हैं और अब तो जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में इस प्रणाली को देशभर में औपचारिक शिक्षा प्रणाली के समान्तर खड़ा किया जा रहा है । कहना न होगा कि इस अभियान के केन्द्र में ‘अर्द्ध-शिक्षक’ है ।

मूलतः अर्द्ध-शिक्षकों के अस्तित्व के पीछे प्राथमिक शिक्षा के व्यापक प्रसार की चुनौती, संसाधनों की कमी और औपचारिक शिक्षा-तंत्र की प्रभावशीलता का हास जैसे प्रमुख कारण रहे हैं । ऐसी स्थिति में ये स्वाभाविक ही था कि इस तात्कालिक वैकल्पिक ‘व्यवस्था’ की ‘उपलब्धि मूलकता’ संदिग्ध होती । इस ‘निदानात्मक प्रणाली’ की ‘औपचारिक शिक्षा प्रणाली’ से समानता के बारे में सोचना भी उचित नहीं माना जाता । किन्तु समस्या तब खड़ी होती है जब शिक्षाकर्मि परियोजना की ‘सफलता’ की तरह कई और मूल्यांकन-अध्ययन ‘अर्द्ध-शिक्षकों’ के कार्य और भूमिका को प्रभावशाली और कारगर साबित करते हैं और कई बार तो इस समान्तर प्रणाली को औपचारिक प्रणाली से ज्यादा सफल बताते हैं । जाहिर है कि इन मूल्यांकनों के साक्ष्यों ने इस समान्तर तंत्र को वैधता ही नहीं बल भी प्रदान किया है । साथ ही इससे शिक्षा की औपचारिक प्रणाली को परोक्षतः धक्का लगा है । यहां हमारा ध्येय इन मूल्यांकन अध्ययनों को चुनौती देना नहीं है । हम तो राज्य सत्ता के संवैधानिक संकल्प और राष्ट्रीय कार्यभार के मद्देनजर औपचारिक शिक्षा-प्रणाली की अवस्थिति पर विचार करना चाहते हैं । इस परिप्रेक्ष्य से देखें तो प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की दिशा में अनौपचारिक प्रयास मुख्यधारा के ऐसे आनुषंगिक उपक्रम हैं जो शिक्षा में विषमता को और बढ़ाते हैं । औपचारिक शिक्षा-तंत्र की विफलता इन आनुषंगिक उपक्रमों को समान्तर तंत्र में बदल देती है और स्थिति यह आ जाती है कि औपचारिक शिक्षा तंत्र पृष्ठभूमि में जाने लगता है । ऐसा क्यों हुआ ? क्या इसके कारणों की खोज में जाने की जरूरत नहीं है?

आजादी के बाद एक तरफ तो आभिजात्य वर्ग के लिए तथाकथित अंग्रेजी पब्लिक स्कूल थे जो अपनी तरह से लगातार विकसित होते रहे थे । आम लोगों के लिए सरकारी स्कूलों की औपचारिक शिक्षा प्रणाली थी । तीसरी ओर कुछ मिशनरी और अन्य धार्मिक-सामाजिक शिक्षा-व्यवस्थाएं थीं । मुख्यधारा सरकारी स्कूल आजादी के बाद कुछ दशकों तक सभी सामान्य लोगों (वंचित गरीब तबकों को छोड़कर) के स्कूल रहे । लेकिन वर्गीय विषमता के चलते उच्च मध्यवर्ग और ग्रामीण सम्पन्न वर्ग ने इन स्कूलों

से अपने बच्चों को निकालकर निजी स्तर पर संचालित कथित अंग्रेजी स्कूलों में डाल दिया । ये सरकारी स्कूल गरीब ग्रामीण और निम्न मध्यवर्ग व निम्न वर्गों के स्कूल बनकर रह गये । तीसरी ओर वह दलित और विपन्न तबका था जो शिक्षा की ओर अभी आकृष्ट नहीं हुआ था । इस सब के दौरान सरकारी स्कूल से बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की तादाद भी काफी बनी रही । इस स्थिति का नतीजा था कि समाज का वर्चस्वशाली तबका तो औपचारिक शिक्षा प्रणाली से इसलिए उदासीन था कि वह इसका उपयोग ही नहीं कर रहा था । जबकि जिन लोगों के बच्चे इन स्कूलों में पढ़ रहे थे, वे इन स्कूलों की रीति-नीति या इनमें कार्यरत शिक्षकों को प्रभावित या नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं रहे । ऐसी स्थिति में सरकारी शिक्षक वर्ग भी उसी कार्य-संस्कृति का शिकार हुआ, जिससे कि समूचा सरकारी तंत्र ग्रस्त है । सरकारी स्कूल के शिक्षकों के प्रति ये शिकायतें आम रहीं कि वे अनियमित रहते हैं और शिक्षा की गुणवत्ता बनाये रखने के प्रति उदासीन रहे हैं । दूरस्थ ग्रामीण अंचलों में यह स्थिति और भी ज्यादा पाई गई ।

आखिर ऐसी स्थिति आयी कैसे ? संवैधानिक संकल्प तो औपचारिक प्रणाली के माध्यम से प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनिकरण का था । तब अहम् मुद्दा तो इसके लिए संसाधन जुटाकर इस प्रणाली के व्यापक प्रसार का था । फिर संवैधानिक संकल्पों का स्थगन क्या व्यक्त करता है ? शिक्षा में समानता, गुणवत्ता और संख्यात्मक विस्तार की शैक्षिक संरचना के लिए प्रयासों का क्या हुआ ? यदि कोई गैर सरकारी संगठन प्रारंभिक शिक्षा को लेकर नवाचार करता है और सरकारी प्रणाली से बेहतर नतीजे दिखाता है तो सरकार को अपनी प्रणाली को दुरस्त करने और उसकी प्रभावशीलता बढ़ाने में इस अनुभव से लाभ लेना चाहिये । इसके उलट राज्य ने अपनी प्रणाली को 'रिड्यूस' कर विकल्प के तौर पर एक अस्थायी किस्म का ढांचा स्थापित कर दिया । इस तरह राज्य ने अपनी प्रणाली की खामियों को 'स्वीकृति' अथवा उन खामियों को दूर करने के प्रति अपनी अशक्तता प्रदर्शित कर दी ।

वरना औपचारिक प्रणाली की जिन कमजोरियों पर लगातार चर्चा होती रही, उन्हें दूर करने के कितने गंभीर प्रयास किये गये ? शिक्षा का जनतांत्रिकरण और विकेन्द्रीकरण करने और शैक्षिक प्रक्रियाओं में समुदाय की भागीदारी के लिए मुख्यधारा प्रणाली में क्या कोशिशें हुई ?

यदि शिक्षकों की स्थानान्तरण पद्धति अपना कोई औचित्य प्रतिपादित नहीं कर पाई तो क्यों नहीं कार्यक्षेत्र से शिक्षक की निकटता और स्थानिकता जैसे कारकों पर ध्यान दिया गया ? फिर आज जब दुनिया परस्पर नजदीक आ रही है तो देश का एक हिस्सा कैसे आजादी के पाचास साल बाद भी शिक्षा की पहुंच से परे बना हुआ है ? यदि प्रशिक्षण इतना समर्थ है कि एक कम शिक्षित और कम वेतन/ पारिश्रमिक पाने वाला व्यक्ति एक कम सुविधा व समय वाला स्कूल चलाकर मुख्यधारा स्कूल के बराबर या अधिक उपलब्धि मूलक नतीजे देता है तो इस प्रशिक्षण पाठ्यक्रम से मुख्यधारा के स्कूल शिक्षक को क्यों वंचित रखा हुआ है ? ऐसे बहुतेरे सवाल इस संदर्भ में उठाये जा सकते हैं और उठाने भी चाहिये । मूल्यांकन-अध्ययन भले कुछ भी कहें, 'अर्द्ध-शिक्षकों के भरोसे गुणवत्तायुक्त शिक्षा' एक अर्द्ध सत्य ही है । इन अध्ययनों में वर्णित उपलब्धियों के कुछ कारण ऐसे भी हैं जो इन रपटों में वर्णित नहीं हैं । ये अर्द्ध शिक्षक बेरोजगार युवाओं की उस बहुसंख्यक जमात से हैं जो रोजगार की किसी भी उम्मीद पर पतंगे की तरफ न्यौछावर हो सकती है । ये अपने नियोक्ता तंत्र और स्थानीय समुदाय को शिकायत का कोई भी अवसर नहीं देना चाहते । दूसरे, अभी इन स्कूलों/केन्द्रों के शुरुआती वर्ष हैं, बड़ी कक्षाओं में ये लोग शायद ही ऐसी उपलब्धि दिखा पायेंगे । और यदि ये ऐसा कर भी पाते हैं तो ये सब कब तक चलेगा ? न्यूनतम दैनिक मजदूरी से भी कम पारिश्रमिक में ये लोग आखिर कब तक काम कर पायेंगे ? मान लेते हैं कि ऐसी विवशताएं बनी रहें कि इन्हें काम करते रहना पड़े तो क्या यह उचित होगा ? यूनान में दास अच्छा काम करते थे, तो क्या इससे दास-प्रथा का औचित्य प्रतिपादित हो जाता है ? शिक्षा के क्षेत्र में 'यथास्थिति' खेदजनक मसला रहा है, अस्थायी अर्द्ध-शिक्षकों की मौजूदगी और बढ़ोतरी शिक्षा में 'यथास्थिति' के स्खलन का द्योतक है, अब इसे क्या कहें ? ◆